पहला अध्याय

साहित्य के समाजशास्त्र का स्वरूप

समाजशास्त्र अंग्रेजी के 'सोशियोलॉजी' (sociology) शब्द का हिंदी पर्याय है। सोशियोलॉजी शब्द लैटिन के 'सोशियस' (socius) और ग्रीक के 'लोगस' (logus) शब्द से मिलकर बना है जहाँ 'सोशियस' का अर्थ 'समाज' और 'लोगस' का अर्थ 'शास्त्र' या 'विज्ञान' है। अर्थात 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ हुआ 'समाज का शास्त्र' या 'समाज का विज्ञान'। प्रमुख समाजशास्त्री आगस्ट कॉम्ट ने सबसे पहले 1838 में 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया– "समाजशास्त्र में कॉम्ट को शीर्ष स्थान इसलिए भी दिया जाता है कि उन्होंने इस ज्ञान शाखा का नामकरण किया। वे कम से कम समाजशास्त्र के तो जनक थे, क्योंकि किसी भी पिता की तरह इन्होंने इस विषय को नाम दिया।"[1] मैकाइवर और पेज ने इसकी परिभाषा देते हुए इसे सामाजिक संबंधों का जाल बताया। अर्थात "समाजशास्त्र अनिवार्य रूप से समाज में स्थित मनुष्यों का वैज्ञानिक, वस्तुगत अध्ययन है – सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन है।"[2]

समाजशास्त्र का संबंध मूलत: सामाजिक जीवन और उसके पारस्परिक संबंधों से है। इन सामाजिक जीवन और संबंधों का आधार समाज है। इसमें व्यक्ति को नहीं अपितु समाज को महत्व दिया गया है क्योंकि व्यक्ति सामाजिक संबंधों में प्रवेश करके ही मनुष्य बनता है परंतु इस बात को भी नहीं भुलाया जा सकता कि मानव समुदायों का समूह ही समाज है। अर्थात समाज का आधार ही मनुष्य है और बिना आधार के कोई भी वस्तु अस्तित्वहीन रहती है। मनुष्य अपने रोजमर्रा की आवश्यकताओं के अनुसार अपने-अपने समाज का निर्माण करता है। मनुष्य और समाज के इस परस्पर संबंध का अध्ययन ही 'समाजशास्त्र' नामक

---

1. *दोषी जैन, एस.एल.पी.सी., 'प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक', संस्करण : 2001, रिप्रिन्टेड : 2013, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृष्ठ संख्या – 3*

2. *जैन निर्मला (संपा.), 'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन', (आलेख–एलेन स्वीगवुड), 'समाजशास्त्र और साहित्य लेखक', (अनुवाद–निर्मला जैन), प्रथम संस्करण : 1986, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, मॉडल टाउन दिल्ली द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ संख्या – 1*

विषय के अंतर्गत किया जाता है। अर्थात मनुष्य और समाज के बीच इन अंत:संबंधों का आधार क्या है और इसका भविष्य क्या है, यह सब 'समाजशास्त्र' द्वारा ही ज्ञात होता है। हमें यह याद रखना चाहिए कि किसी भी सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन समाजशास्त्र के अंतर्गत उनके सामाजिक संबंधों के संदर्भ में ही किया जा सकता है। क्योंकि इन सामाजिक संबंधों के कारण ही सामाजिक अंत:क्रियाएं होती हैं, अत: समाजशास्त्र के अंतर्गत समाज की उत्पत्ति, सामाजिक संस्थाएं, इनकी प्रणालियाँ एवं संरचनाएँ, बदलते सामाजिक संबंध, जाति-पाति, परंपराएं, रीति-रिवाज, नियम, परिवार, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक प्रभाव इत्यादि को जानने का प्रयत्न कर सकते हैं।

यद्यपि मनुष्य बहुत प्राचीनकाल से ही समाज में रहता आया है परंतु अपने और सामाजिक संबंधों के अध्ययन के तरफ उसका ध्यान काफी बाद में गया। पहले उसके आस-पास फैले प्राकृतिक पर्यावरण ने उसका ध्यान आकर्षित किया, बाद में सामाजिक संबंधों ने। यही कारण है कि प्रकृति विज्ञान का उदय पहले हुआ और सामाजिक विज्ञान का बाद में। इस प्रकार 'सामाजिक विज्ञान' या 'समाजशास्त्र' एक नवीन विषय है। हर्वर्ट मरक्यूज के अनुसार समाजशास्त्र के उदय के मूल में उद्योग एवं पूंजीवाद है। उद्योग एवं पूंजीवाद के प्रभाव से पूरे देश की अधिकांश वस्तुओं का व्यापार एवं उत्पाद केंद्रीय स्तर पर होने लगता है जिसके कारण क्षेत्रीय व स्थानीय स्तर के व्यापारी या उत्पाद उसका मुकाबला नहीं कर पाए और स्थानीय व क्षेत्रीय स्तर की अर्थव्यवस्थाएं समाप्त हो गईं, जिससे दरिद्रता बड़े पैमने पर बढ़ गई, शहरों की ओर पलायन बढ़ा। अपराध, शराबखोरी, वेश्यावृत्ति एवं मूल्यों का ह्रास बढ़ा। इंग्लैंड में तो स्थिति और भी भयावह हुई। यहाँ बार-बार हिंसा हुई। पादरी असम्मानित तथा सामंत प्रताड़ित किए गए। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश शासक वर्ग, सामंत, पादरी एवं नव-पूंजीपतियों ने दूरदर्शिता का परिचय देते हुए मजदूरों की सुविधाओं की तरफ ध्यान दिया। उनकी सामाजिक स्थिति का सर्वेक्षण किया गया। टी.बी. बोटोमोर के अनुसार यह सर्वेक्षण ही 'समाजशास्त्र' के उदय की पृष्ठभूमि थी जबकि एक विषय के रूप में समाजशास्त्र का उदय फ्राँसीसी क्रांति का परिणाम है। फ्राँसीसी क्रांति के फलस्वरूप ज्ञानोदय की विचारधारा लोकप्रिय हुई–"फ्राँससी क्रांति की चर्चा न केवल इतिहास में बल्कि राजनीति, कानून, लोक-

प्रशासन में भी होती है। समाजशास्त्र इसकी विशेष चर्चा करता है। इसका कारण यह है कि फ्राँसीसी क्रांति और समाजशास्त्र का रिश्ता, कारणात्मक है। इतिहासकार डेविड टॉमसन ने अपनी पुस्तक 'यूरोप सिंस नेपोलियन' में लिखा कि फ्राँसीसी क्रांति के अनेक परिणाम हुए, इसका एक परिणाम समाजशास्त्र रूपी एक नए विषय का उदय भी था।"[3] राबर्ट निसबेट (Robert Nisbet) ने समाजशास्त्र के उदय को एक स्वतंत्र वैचारिक दृष्टि से जोड़ा। ज्ञानोदय के पश्चात सामाजिक दर्शन की चर्चा होती है।

हर्बर्ट मरक्यूज के अनुसार बौद्धिक दृष्टि से समाजशास्त्र का जन्म सामाजिक दर्शन के गर्भ से ही हुआ है। यूरोपीय व्यापारियों के विश्व व्यापार के फलस्वरूप बहुत-सी व्यापारिक सूचनाओं का आदान-प्रदान हुआ जिससे सामाजिक दर्शन का उद्‌भव हुआ एवं इन सूचनाओं के आदान-प्रदान के फलस्वरूप कुछ सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं जिसके समाधान के लिए समाजशास्त्र का जन्म हुआ। सामाजिक दर्शन और समाजशास्त्र में कुछ मूलभूत भिन्नता है – सामाजिक दर्शन का संबंध चिंतन, आत्म-चिंतन एवं विद्वानों के विचार-विमर्श से है जबकि समाजशास्त्र में विचारों अथवा उपकल्पनाओं को निश्चित तथ्यों, प्रमाणों से प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक दर्शन का ज्ञान बड़े-बड़े दार्शनिक, राजाओं और अन्य लोगों को सलाह देने के लिए है जबकि समाजशास्त्र का ज्ञान उद्योग एवं पूंजी के फलस्वरूप उत्पनन हुए सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक पद्धति से समाधान के लिए है।

भारत में समाजशास्त्र का विकास प्राचीन भारतीय ग्रंथों – वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता आदि में सामाजिक चिंतन के व्यवस्थित रूप में परिलक्षित किया जा सकता है। इन ग्रंथों में उस समय के व्यवस्थित सामाजिक ढाँचा का रूप देखने को मिलता है। आवश्यक जीवन मूल्यों और सामाजिक-व्यवस्था को बनाये रखने वाले आवश्यक तत्वों पर भी गहन चिंतन-मनन देखने को मिलता है। उस समय समाज में व्याप्त वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्ति और समाज के जीवन को एक निश्चित पद्धति में संचालित कर रहा था। धर्म, अर्थ,

---

3. हुसैन मुजतबा, 'समाजशास्त्रीय विचार', प्रथम संस्करण : 2010, पुनर्मुद्रित : 2012, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पृष्ठ संख्या – 7

काम, मोक्ष पुरुषार्थ जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य थे जिन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य अपने व्यक्तित्व विकास के साथ-साथ सामाजिक जीवन को भी उन्नतशील बना रहे थे। उस समय व्यक्ति को इतना महत्व नहीं दिया गया कि वह समाज पर हावी हो जाए और समाज को भी इतना शक्तिशाली नहीं मान लिया गया कि उसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व दब के रह जाय। उस समय के चिंतकों ने भौतिकता और व्यक्तिवादिता के अलावा अध्यात्म का सहारा लिया। लोगों के आचरण, व्यवहार कुशलता का मूल्यांकन धर्म के आधार पर निश्चित करने का प्रयत्न किया। यह सामाजिक चिंतन समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। कौटिल्य के **'अर्थशास्त्र'** एवं मुगलकाल में लिखे गए **'आइने अकबरी'** में उस समय की सामाजिक संरचना, रहन-सहन, रीति-रिवाज, परंपरा, अनुष्ठान, समाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार, आचरण संबंधी आदर्श नियम, सामाजिक व्यवस्था एवं समय के साथ उसमें होने वाले परिवर्तन की झलक मिलती है –" **'रामचरित मानस'** हिंदी का ऐसा अभिजात काव्य है जिसमें ज्ञान की कई शाखाएं एक साथ आबद्ध हैं। वह धर्मग्रंथ है, दर्शन तथा संस्कृति का विवेचन उसमें है, समाज का चित्रण भी उसमें है। ...इस ग्रंथ के मूल्यांकन के प्रतिमान ज्ञान की किसी एक शाखा पर आधृत नहीं हो सकते। समाजशास्त्री उसे अपने प्रतिमानों पर परख सकते हैं। दार्शनिक उसके विचारों की स्वतंत्र व्याख्या कर सकते हैं। धर्मशास्त्र के रूप में उक्त ग्रंथ का मूल्यांकन अलग रूप में संभव है।"[4]

उस समय के सामाजिक चिंतन पर धर्म का काफी प्रभाव था। प्रो. विनय कुमार सरकार, प्रो. बृजेंद्रनाथ, डॉ. भगवान दास एवं प्रो. केवल मोलवानी ने प्राचीन ग्रंथों को समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन की दिशा में काफी योगदान दिया। अतः उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र का विकास भारत में वैदिककाल से ही आरंभ हो चुका था। परंतु मध्यकाल में सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन का कोई प्रयास नहीं हुआ। समाजशास्त्र का

---

4. *गुप्ता विश्वंभर दयाल (संपा.), 'साहित्य : समाजशास्त्रीय संदर्भ' (आलेख –डॉ. भ.ह.राजूरकर), साहित्य और समवर्गी विद्या शाखाएँ', प्रथम संस्करण : 1987, सीता प्रकाशन, मोती बाजार हाथरस-204101 (उत्तर प्रदेश), पृष्ठ संख्या – 1, 2*

औपचारिक अध्ययन आधुनिक काल में ही शुरू हो पाई। 1914 से 1947 तक के समय को भारत में समाजशास्त्र के औपचारिक प्रतिस्थापन युग कहा जा सकता है। सन् 1914 में सर्वप्रथम बंबई विश्वविद्यालय में स्नातक स्तर पर समाजशास्त्र विषय का अध्ययन शुरू हुआ था और 1919 में यहाँ ब्रिटिश समाजशास्त्री प्रो. पैट्रिक गोडिस की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हुई और इसका अध्ययन स्नातकोत्तर स्तर पर भी शुरू कर दिया गया। सन् 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रो. बृजेंद्रनाथ शील के प्रयत्नों से अर्थशास्त्र के साथ ही समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का कार्य चालू किया गया। डॉ. राधाकमल मुखर्जी, विनय कुमार सरकार, डॉ. डी. एन. मजूमदार तथा प्रो. निर्मल कुमार बोस जैसे प्रतिभाशाली विद्वान इन्हीं के शिष्य थे जिन्होंने आगे चलकर समाजशास्त्र के विकास में काफी योगदान दिया। डॉ. राधाकमल मुखर्जी 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के विभागाध्यक्ष नियुक्त किए गए। 1924 में पैट्रिक गोड्स के ही शिष्य देश-विदेश के जाने-माने समाजशास्त्री डॉ. जी. एस. धुरिये को बंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग का विभागाध्यक्ष नियुक्त किया गया। डॉ. राधाकमल मुखर्जी और डॉ. जी.एस. धुरिये का समाजशास्त्र के विकास में काफी योगदान रहा। इसके अलावा मैसूर विश्वविद्यालय तथा आंध्र विश्वविद्यालय में भी क्रमशः 1923 और 1930 से समाजशास्त्र का एक विषय के रूप में पठन-पाठन आरंभ हुआ। स्वतंत्रा के पूर्व तक हमारे देश में समाजशास्त्र की नींव अवश्य पड़ चुकी थी परंतु इसके विकास की गति काफी धीमी थी। अब तक एक स्वतंत्र विषय के रूप में यह मान्यता नहीं प्राप्त कर पाया था। कहीं अर्थशास्त्र के साथ तो कहीं दर्शनशास्त्र या मानवशास्त्र के साथ यह जुड़ा रहा। स्वतंत्र विषय के रूप में इसे मान्यता 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात ही प्राप्त हो पाई। वर्तमान समय में देश के आधे से अधिक विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र रूप से समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हो चुकी है। बी.ए. और एम.ए. स्तर पर विद्यार्थियों को पढ़ाया जा रहा है। कृषि विश्वविद्यालय में ग्रामीण समाजशास्त्र में लोगों की रुचि बढ़ रही है। चिकित्सा के क्षेत्र में समाजशास्त्रियों की महत्वपूर्ण सेवाएं ली जा रही हैं।

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियाँ

Trends of development of sociology in India :

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियों को समझने के लिए विद्वानों का समूह तीन भागों में बँटा हुआ है। पहले भाग में वे समाजशास्त्री आते हैं जो पश्चिमी समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं पद्धतियों के आधार पर समाजशास्त्र का विकास भारत में भी करना चाहते हैं। दूसरे भाग में वे समाजशास्त्री आते हैं जो भारत में समाजशास्त्र का विकास भारतीय परंपरा, चिंतन एवं संस्कृति के आधार पर करना चाहते हैं तथा तीसरे भाग में वे समाजशास्त्री आते हैं जो पश्मिची और भारतीय चिंतन के समन्वय के आधार पर देश में समाजशास्त्र का विकास चाहते हैं। इन तीनों प्रकार की विचारधारा से प्रभावित प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं – (1) पाश्चात्य समाजशास्त्री परंपरा से प्रभावित (2) परंपरागत भारतीय चिंतन से प्रभावित (3) पाश्चात्य एवं भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं के समन्वित चिंतन से प्रभावित।

(1) पाश्चात्य समाजशास्त्रीय परंपरा से प्रभावित

Influenced by Western Sociologocal thinking

इस विचारधारा से प्रभावित विद्वानों का मानना है कि भारत में समाजशास्त्र का विकास पश्चिमी समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं पद्धतियों के आधार पर ही होना चाहिए। वे पश्चिमी देशों के अनुकरण के आधार पर ही भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के पक्षपाती हैं। भारत के बहुत सारे विद्वानों ने इस विचारधारा से प्रभावित होकर समाजशास्त्रीय अध्ययन किए हैं – डॉ. हट्टन, रिजले, डॉ. धुरिये, मजूमदार एवं ऊषा कपाडिया ने पाश्चात्य समाजशास्त्रीय चिंतन से प्रभावित होकर जाति, वर्ग, विवाह, परिवार, नातेदारी और धर्म से संबंधित गहन अनुभवानात्मक अध्ययन (Empirical Studies) करके समाजशास्त्र के विकास में अपूर्व योगदान दिया। डॉ. हट्टन और मजूमदार ने भारतीय जाति-व्यवस्था का गहन अध्ययन किया जबकि डॉ. धुरिये ने जाति, वर्ग, व्यवसाय, परिवार एवं धर्म जैसे समाजशास्त्रीय विषयों को अपने अध्ययन का आधार बनाया। इन्होंने इस विषय पर 'Cast class and Occuipation', 'Culture and Society', 'Cities and Civilization' नामक प्रमुख पुस्तकें लिखीं। डॉ. के.ए. कपाडिया ने

विवाह, परिवार और नातेदारी तथा डॉ. मजूमदार ने बिहार, बंगाल, यू.पी. तथा एम.पी. के जनजातीय क्षेत्रों को अपने अनुसंधान का आधार बनाया। पाश्चात्य समाजशास्त्रीय विचारधारा से ही प्रभावित कुछ विद्वानों ने धार्मिक विश्वासों तथा नैतिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्रारंभ किया, जिसके अंतर्गत डॉ. एस. एन. श्रीनिवास का दक्षिण के कुर्ग प्रदेश में कुर्ग लोगों का अध्ययन आता है। कुछ ऐसे विद्वान भी थे जिन्होंने ग्रामीण अध्ययन (Village Studies) भी किए। डॉ. एस. सी. दुबे तथा डॅ. ए.आर. देसाई जैसे प्रमुख समाजशास्त्रियों ने अपने शोध-कार्यों के आधार पर ग्रामीण समुदाय एवं वहाँ चल रही धीमी विकास प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। डॉ. मजूमदार ने भी अपनी पुस्तक Rural Village में ग्रामीण समाज का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र की एक अन्य प्रवृत्ति **'सामाजिक अर्थशास्त्र'** के नाम से जाना जाता है जिसके अंतर्गत सामाजिक और आर्थिक कारकों का एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। डॉ. डी.पी. मुखर्जी ने अर्थशास्त्र के प्राचीन ज्ञान को समाजशास्त्र से जोड़ने का प्रयास किया जबकि डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने **'अर्थशास्त्र का संस्थापन सिद्धांत'** Institutional Theory of Economics प्रतिपादित किया।

भारत में 'समाजशास्त्रीय चिंतन' पर पश्चिम के प्रभाव को कुछ विद्वान इसके स्वतंत्र विकास में बाधा मानते हैं। डॉ. एस. सी. दुबे भारतीय समाजशास्त्रीय चिंतन के स्वतंत्र विकास के लिए इसे औपनिवेशिक छाप से मुक्ति दिलाना चाहते हैं। वे समाजशास्त्र को आत्म-निर्भर बनाना चाहते हैं।

(2) परंपरागत भारतीय चिंतन से प्रभावित

Influenced by Traditional Indian Thinking :

इस विचारधारा से प्रभावित विद्वानों की यह मान्यता है कि भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहारों में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं कि इन्हें पाश्चात्य समाजशास्त्रीय दृष्टि का अंधानुकरण करके ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता है। डॉ. भगवान दास एवं श्री आनंद कुमार स्वामी ने भारतीय संस्कृति का सूक्ष्म अवलोकन किया है और उनका मानना है कि भारतीय समाज और पाश्चात्य समाज के सामाजिक मूल्यों, जीवन-दर्शन और संस्कृति में कुछ

ऐसे मौलिक अंतर है जिसे पाश्चात्य समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन के बल पर पूर्ण रूप से समझना संभव नहीं है। अतः परंपरागत भारतीय विचार की तार्किक दृष्टि ही इसके लिए उपयोगी है। जटिल एवं व्यापक भारतीय समाज और संस्कृति को समझने के लिए प्रो. सारन ने सामाजिक मूल्यों तथा प्रो. नर्मदेश्वर प्रसाद ने जाति-व्यवस्था के आधार पर जीवन-व्यवस्था को समझने पर जोर दिया है। परंतु अधिकांशतः समाजशास्त्री यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि केवल परंपरागत भारतीय चिंतन के आधार पर ही भारत में समाजशास्त्र का विकास होना चाहिए। उनका मानना है कि पाश्चात्य समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों और पद्धतियों पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में विचार होना चाहिए। ऐसा जरूरी नहीं है कि भारतीय चिंतन में जो कुछ है उसे छोड़ना ही है और पाश्चात्य चिंतन में जो कुछ है उसे ग्रहण करना ही है। भारतीय समाज व्यवस्था को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ठीक से समझने एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के विकास के लिए जहाँ जिस विचारधारा की आवश्यकता पड़े, उससे परहेज नहीं करना चाहिए।

(3) **पाश्चात्य एवं भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं के समन्वित चिंतन से प्रभावित Influenced by Synthetical Thinking of Western and Indian Sociological Traditions :**

डॉ. डी.पी. मुखर्जी ने भारत में समाजशास्त्र के विकास एवं भारतीय समाज को समझने के लिए भारतीय परंपराओं, मान्यताओं एवं चिंतनों का अध्ययन करना समाजशास्त्रियों का कर्तव्य बताया है। उनका स्पष्ट मानना है कि भारत में अनुसंधान केवल पश्चिम से आयातीत सिद्धांतों, अवधारणाओं एवं पद्धतियों से संभव नहीं है बल्कि इसके लिए भारतीय परंपराओं, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, संस्कारों आदि का ठीक से समझ जरूरी है। यहाँ समय-समय पर बहुत-सी संस्कृतियाँ आईं, जिनका हमारी संस्कृति के साथ मेल-बंधन हो गया। संस्कृति के इस समन्वय को समझने के लिए हमें इतिहास का भी सहारा लेना चाहिए। अतः इनका स्पष्ट मत है कि भारत में समाजशास्त्र का विकास भारतीय और पाश्चात्य चिंतन के समन्वित आधार पर ही संभव है। डॉ. जी.एस. धुरिया भी उपरोक्त मान्यता से सहमत हैं। वे भी पश्चिमी सिद्धांतों के अंधानुकरण के खिलाफ हैं। भारतीय परिस्थितियाँ एवं समाज-व्यवस्था की विशेषताओं को ध्यान में रखकर आवश्यकतानुसार संशोधन के साथ वे भारतीय समाजशास्त्र

के विकास के पक्षधर हैं।

अतः अभी तक भारत में समाजशास्त्र के विकास की कोई स्पष्ट दिशा नहीं है। अधिकांशतः विद्वान पश्चिमी सिद्धांतों का अंधानुकरण कर रहे हैं। भारतीय समाज, संस्कृति, परंपरा, चिंतन पर उतना सार्थक विचार अभी तक नहीं हुआ है। यही कारण है कि यहाँ समाजशास्त्र का विकास अभी भी अपने शैशवकाल में है।

समाजशास्त्र समाज का ही विज्ञान है क्योंकि इसके द्वारा समाज या सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र का अध्ययन हम एक व्याख्यात्मक विज्ञान के रूप में भी करते हैं क्योंकि यह किसी भी घटना के सार्थक कारणों को जानकर उसका समाधान करने का प्रयास करता है। यह किसी भी घटना अथवा यथार्थ के सामाजिक आधारों की खोज करता है। व्याख्यात्मकता का अर्थ यह है कि किसी घटना के लिए जिम्मेदार सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों के साथ-साथ उसके आर्थिक-राजनीतिक कारकों के तह तक जाकर उसकी व्याख्या करता है समाजशास्त्र। चूंकि हमारा समाज और सामाजिक संबंध समय के अनुरूप परिवर्तनशील है। मनुष्यों के सोचने, कहने और करने में भिन्नता है। इसलिए इसके अध्ययन क्षेत्र में भी काफी कुछ अस्पष्टता पाई जाती है।

कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों ने इसकी परिभाषा निम्न रूप से दी है –

1. प्रो. गिन्सबर्ग (Prof. Ginsberg) ने इसकी परिभाषा "समाज अर्थात मानवीय अंतःक्रियाओं एवं अतंःसंबंधों के ताने-बाने का अध्ययन"[5] के रूप में की है।

"The study of society, that is of the web or tissue of human interaction and inter-relation"

---

5. विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 3

2. मैक्स वेबर के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण बोध कराने का प्रयत्न करता है।"[6]

"Sociology is the science which attempts the interperetative understanding of social action."

3. जॉनसन, एच. एम. के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक समूहों, उनके आंतरिक रूपों अथवा संगठन की विधियों, उन प्रक्रियाओं का, जो संगठन के इन रूपों एवं समूहों के मध्य संबंधों को स्थिर या परिवर्तित करती है, वर्णन करता है।"[7]

"Sociology is the science that deals with social groups, their internal forms or models of organization, the process that tend to maintain or change these forms of organization and relation between groups."

4. गिडिंग्स का मत इस प्रकार है –"समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन और व्याख्या है।"[8]

"Sociology is the scientific study of society."

5. एल.एफ.वार्ड. के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक घटना, वस्तु अथवा समाज का विज्ञान है।"[9]

---

6. *विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 6*
7. *विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 5*
8. *विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 6*
9. *विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 5*

6. हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार, "समाजशास्त्र अधिसावयवी (super organic) प्रघटनाओं का अध्ययन करता है।"[10]

7. एच.पी. फेयरचाइल्ड का मत है, "समाजशास्त्र मनुष्यों एवं मानवीय पर्यावरण (Human Environment) के मध्य संबंधों का अध्ययन है।"[11]

8. सिमल का मत है, "समाजशास्त्र मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है। यह उन नियमों को जानने का प्रयत्न करता है जो मानव-व्यवहार को प्रभावित करते हैं, इसलिए नहीं कि ये उसके सुबोध व्यक्तिगत अस्तित्व का परिचय देते हैं, अपितु इसलिए कि ये मनुष्य के द्वारा समूह बनाये जाने तथा ऐसे समूहों के कारण अंत:संबंधों पर प्रभाव डालते हैं।"[12]

9. दुर्खीम का मत है, "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का विज्ञान है।"[13]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न समाजशास्त्रियों का समाजशास्त्र के अवलोकन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण हैं। ये दृष्टिकोण समाज, सामाजिक-संबंध, सामाजिक-व्यवस्था, सामाजिक-संरचना, सामाजिक-समूहों, सामाजिक-अंत:क्रियाओं, मानव-व्यवहारों, मानवीय-संबंधों इत्यादि का अध्ययन करती है।

साहित्य का समाजशास्त्र

वस्तुत: देखा जाय तो साहित्यिक रचना और उसकी समझ कभी भी अपने सामाजिक

---

10. दोषी जैन, एस.एल.पी.सी., 'प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक', संस्करण : 2001, रिप्रिन्टेड : 2013, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, पृष्ठ संख्या – 98

11. विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 5

12. विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 5

13. विद्याभूषण, सचदेव डी.आर., 'समाजशास्त्र के सिद्धांत', बत्तीसवां संस्करण : 2014, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या – 6

संदर्भों से अछूता नहीं रहा है। पर आधुनिक युग के साहित्य पर सामाजिक संदर्भ और राजनीतिक परिवेश का जितना ज्यादा प्रभाव पड़ा है, उतना इसके पहले कभी नहीं पड़ा। आज का साहित्य सौंदर्य और प्रेम की एकांत साधना से काफी उपर उठ चुका है। वह समाज की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से बहुत ज्यादा प्रभावित है। साहित्य के समाजशास्त्र की एक अन्य विशेषता यह भी है कि लेखक की सामाजिक स्थिति का प्रभाव उनकी रचनाओं में विभिन्न संबंधों के रूप में लक्षित किया जा सकता है। समाजशास्त्र की ही तरह, साहित्य का भी अटूट संबंध समाज, समाज में रहने वाले लोगों और उनके जीवन स्तर को बदलने की आकांक्षा से है। अतः साहित्य का सृजन समाज के हित में होना चाहिए, उसके सटीक दिशा निर्देशन के पक्ष में होना चाहिए। हिंदी में 'साहित्य का समाजशास्त्र अभी अपने शैशव अवस्था में है। "साहित्य का समाजशास्त्र बीसवीं शताब्दी का पौधा है।"[14]

पश्चिम में भी अभी यह विकासशील स्थिति में ही है। यहाँ भी इसके स्वरूप को लेकर अभी वाद-विवाद की स्थिति है। समाजशास्त्री इसे समाजशास्त्र का ही एक शाखा समझते हैं जबकि साहित्य विचारक इसे एक स्वतंत्र साहित्य विधा बताते हैं। कुछ समाजशास्त्री 'साहित्य के समाजशास्त्र' को समाजशास्त्र का एक रूप और 'साहित्यिक-समाजशास्त्र' को साहित्यिक आलोचना का एक प्रकार मानते हैं। सी. फॉस्टर सी. केनफोर्ड ने एक लेख में 'साहित्यिक समाजशास्त्र' को 'साहित्य के समाजशास्त्र' के विकास में खतरा माना क्योंक उनके अनुसार 'साहित्य का समाजशास्त्र' 'समाजशास्त्र का ही एक रूप है।' उन्होंने 'साहित्य के समाजशास्त्र' के नाम पर पढ़ी जा रही अधिकांश रचनाओं को 'साहित्यिक आलोचना' कहना ही उचित समझा। उनका मानना है कि समाजशास्त्री के लिए बड़े से बड़ा कलाकार भी केवल समाज के बारे में सूचना देने वाला होता है परंतु मैनेजर पाण्डेय साहित्य के समाजशास्त्र को 'समाजशास्त्र' से अलग विकसित होती एक स्वतंत्र साहित्य विधा मानते हैं। वे लिखते हैं –

---

14. सिंह बच्चन, 'साहित्य का समाजशास्त्र', संस्करण : 2011, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या–1

"पिछले सौ वर्षों में संस्कृति की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर कलाओं का जो समाजशास्त्र विकसित हुआ है उसका एक रूप है साहित्य का समाजशास्त्र। उसे कोई साहित्य का समाजशास्त्र कहे, साहित्यिक समाजशास्त्र कहे या समाजशास्त्रीय आलोचना कहे – कोई खास फर्क नहीं पड़ता। मुख्य बात यह है कि उसका लक्ष्य साहित्य की सामाजिकता की व्याख्या करना है।"[15] उनका मानना है कि साहित्य के समाजशास्त्र का विकास तेन, लिओ लावेंथल, लूसिएं गोल्डमान, रेमण्ड विलियम्स जैसे साहित्य के आलोचकों ने किया है विशुद्ध समाजशास्त्रियों ने नहीं।

साहित्य के आलोचक साहित्य का अध्ययन मूलतः उनकी निजी आंतरिक संरचना के संदर्भ में यानी उन पर बिंबविधान, लाक्षणिकता, लय, चरित्रांकन, कथानक की द्वंद्वात्मकता आदि की दृष्टि से करते हैं। पाठ केंद्रित आलोचना के बाहर किसी भी प्रकार के चिंतन का ये विरोध करते हैं। समाजशास्त्रीय चिंतन को ये बाहर की वस्तु समझते हैं और इस संदर्भ में बाह्य समाज के हस्तक्षेप को साहित्य के अध्ययन में पूरजोर विरोध करते हैं, यद्यपि साहित्य के अध्ययन के काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण, भाषा वैज्ञानिक पद्धति तथा प्रयोजनमूलक संदर्भ का विरोध नहीं होता है। परंतु ज्योंहि यह कहा जाता है कि समाजशास्त्र कुछ साहित्यिक समस्याओं पर प्रकाश डालेगा या समाजशास्त्र के समझ के बिना साहित्य की समझ ही संभव नहीं है तो पूरे आग्रह के साथ इसका विरोध होता है। ये साहित्यिक आलोचक साहित्य के अध्ययन और समाज के अध्ययन के लिए भिन्न पद्धतियों की बात करते हैं। हम यह जानते हैं कि साहित्य और समाज का संबंध बहुत गहरा है और दोनों का संबंध मनुष्य से है। चूँकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिए सामाजिक क्रियाओं से यह प्रभावित भी होता है और समाज को प्रभावित भी करता है। यही मनुष्य साहित्य की रचना भी करता है। हमारा यही समाज, जहाँ साहित्य उपजता है, अमीर-गरीब, मालिक-मजदूर, शिक्षित-अशिक्षित, सवर्ण-अवर्ण आदि अनेक वर्गों

---

15. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – 5

में बँटा हुआ है। इनमें से एक वर्ग समस्त आर्थिक संपन्नता, राजनीतिक अधिकार, धार्मिक वर्चस्व एवं सामाजिक प्रतिष्ठा से लैस है जबकि दूसरा वर्ग इन सबसे वंचित एवं प्रताड़ित है। जाहिर है जिनके हाथों में समस्त अधिकार और आर्थिक सुविधाएँ हैं, वे भला परिवर्तन क्यों चाहेंगे? जो शोषित, पीड़ित, दमित, प्रताड़ित एवं अत्याचारित हैं, वे ही इस व्यवस्था और स्थिति में परिवर्तन की माँग करेंगे।

अब सवाल यह है कि समाज को इस भ्रष्ट और शोषक-व्यवस्था से छूटकारा मिले कैसे? स्पष्ट है जो वंचित हैं और जो वंचक हैं, उनके मानसिक और बौद्धिक विकास में समरूपता की आवश्यकता है। जब तक सामाजिक जीवन-मूल्यों, मानवीय-संवेदनाओं और मूलभूत अधिकारों के प्रति समरूप न्यायोचित दायित्वबोध का जन्म नहीं होता, तब तक समान अधिकार, अवसर और सुविधा की बात करना बेमानी है। या फिर जब तक शोषित स्वयं इस नरकीय स्थिति से निपटान हेतु कोई ठोस तर्कसंगत उपाय, क्रियाशील पद्धति और नैतिक साहस नहीं जुगाड़ लेते, तब तक व्यवस्था में परितर्वन असंभव है। चाहे इस उचित दायित्वबोध का आधार दोनों वर्गों का आपसी स्नेह हो या फिर सिर्फ वंचितों में परिवर्तन के लिए क्रांति की आवश्यकता का बोध। दोनों ही स्थितियाँ साहित्य के माध्यम से ही संभव और प्राप्य हैं। साहित्य की इसी क्षमता को भाँपकर, शोषक वर्ग और उसके प्रवक्ता साहित्य को उसके सामाजिक जिम्मेदारी से परे की कोई कथानक, चरित्रांकन या रंगीन मिजाजी की सामग्री के रूप में भी पेश करने से नहीं हिचकिचाते हैं। लेकिन साहित्य का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मानवीय संवेदना के रूप में लेखकों में आरंभ से ही उपस्थित रहा है जो उनसे न्यायोचित सामाजिक संदर्भ की रचनाएं करवाता रहा है। वास्तव में साहित्य और साहत्यिकार का मुख्य सरोकार हमेशा से ही सामाजिक विषंगतियों के विरुद्ध न्यायसंगत क्रांतिकारी परिवर्तन के पक्ष में रहा है। टाल्सटॉय, गोर्की, वाल्जक, रूसो, बंकिम, शरत, नजरूल, प्रेमचंद, निराला, भारतेंदु, माखनलाल आदि की रचनाएं क्रांति के लिए कितना प्रेरक सिद्ध हुईं यह किसी से छुपा नहीं है। अतः रचनाकर्म का जनमानस पर पड़ता प्रभाव, रचना के प्रति रचनाकार का यह दायित्वबोध, यही रचनाकार का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण है जो उसके रचना को प्रभावित करता है। वास्तव में मानवता की रक्षा, वर्ग-भेद तथा आर्थिक विषमता का विनाश, सामाजिक

समधर्मिता की स्थापना, शोषण मुक्त समाज का निर्माण ही वह सौंदर्य है, जिसे हम साहित्य के जरिये प्राप्त कर सकते हैं। साहित्य की यही समाजशास्त्रीय दृष्टि आज परंपरागत तथा समकालीन सौंदर्यशास्त्र के स्थान पर नवीन सौंदर्यशास्त्र के रूप में उभर रही है जिसमें इतिहासबोध और सामाजिक दायित्वबोध के साथ कला की सही पहचान भी है।

'साहित्य के समाजशास्त्र' पर चर्चा होते ही आलोचकों को इससे साहित्य की साहित्यिकता नष्ट होने का भय भी सताने लगता है। परंतु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य की धारणा परिवर्तनशील है, उसे पुरानी रूढ़िवादी धारणा में बाँधकर नहीं रखा जा सकता। साहित्य बदलते रहता है और उसका विकास भी होता है। साहित्य और साहित्य की धारणा का यह विकास सामाजिक विकास से जुड़ा हुआ है। साहित्य के शास्त्रीय धारणा को चुनौती देते हुए बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी प्रदीप के एक लेख में साहित्य को '*जनसमूह के हृदय का विकास*' कहा, जबकि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे '*ज्ञानराशि का संचित कोश*' का नाम दिया। आचार्य शुक्ल ने इसे 'जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब' माना। अतः इससे साहित्य की विकासशीलता की पुष्टि होती है। साहित्य-विवेचन की विभिन्न धारणाओं पर टिप्पणी करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है –"आचार्य रामचंद्र शुक्ल के सामने काव्य और साहित्य संबंधी संस्कृत काव्यशास्त्र की धारणाएं मौजूद थी, फिर भी उन्होंने '*हिंदी साहित्य का इतिहास*' लिखने के लिए साहित्य की नयी धारणा बनाई क्योंकि उनको ऐसी धारणा की जरूरत थी जिससे साहित्य का ऐतिहासिक स्वरूप प्रकट हो सके। इस अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखना संभव न था। यही कारण है कि साहित्य के समाजशास्त्र ने साहित्य की ऐसी धारणा विकसित की है जिससे साहित्य का सामाजिक स्वरूप स्पष्ट हो और समाज से साहित्य के संबंध में व्याख्या संभव हो।"[16]

समाजशास्त्र संबंधी दृष्टियों एवं पद्धतियों की बहुतायता के कारण साहित्य के समाजशास्त्र

---

16. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – 9

के स्वरूप को लेकर अनिश्चयता की स्थिति बनी हुई है। तेन की रचनाओं में उपस्थित '*साहित्य का समाजशास्त्र*' सबसे प्राचीन समाजशास्त्रीय पद्धति विधेयवादी है जबकि रोबेर एस्कार्पी विधेयवाद का ही अद्यतन रूप अनुभववाद का अनुसरण करते हुए साहित्य के समाजशास्त्र का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। गोल्डमान का साहित्य का समाजशास्त्र 'संरचनावाद' से प्रभावित है। जॉन हाल का 'साहित्य का समाजशास्त्र' संरचनात्मक-कार्यात्मक समाजशास्त्र से प्रभावित है जबकि लिओ लावेंथल का 'साहित्य का समाजशास्त्र' आलोचनात्मक समाजशास्त्र से जुड़ा हुआ है। इसलिए पाठक के लिए थोड़ा दुविधा की स्थिति होती है कि कौन-सा साहित्य का समाजशास्त्र अधिक सार्थक और उपयोगी है। खैर इन सारे विवादों के बावजूद साहित्य का समाजशास्त्र एक स्वतंत्र साहित्य-विधा के रूप में विकसित हो रहा है।

साहित्य के समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिए उसके भीतर समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या के क्षेत्र में सक्रिय तीन प्रमुख दृष्टियों को जानना आवश्यक है, जिनका लक्ष्य है –(1) साहित्य में समाज की खोज (2) समाज में साहित्य की सत्ता और साहित्यकार की स्थिति के विवेचन (3) साहित्य और पाठक के संबंध का विश्लेषण।

साहित्य और समाज

समाज से साहित्य के संबंध को ढूँढ़ना और उसका विवेचन करना ही साहित्य के समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है। समाज से साहित्य का यह संबंध उपर से जितना सरल दिखता है, भीतर से उतना ही जटील है। इसमें दो दृष्टिकोण सामने आते हैं, पहला वे जो साहित्य का उपयोग करते हैं समाज को समझने के लिए, और दूसरे वे जो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाते हैं, साहित्य को समझने के लिए। शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण वालों के लिए अच्छे-बुरे, सतही, लोकप्रिय और गंभीर साहित्य में कोई फर्क नहीं है। वे सबका समान दृष्टि से आलोचना करते हैं।

कुछ लोग साहित्य की साहित्यिकता की रक्षा करते हुए उसमें समाजिकता ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। वे रचना की अंतर्वस्तु, संरचना और प्रयोजन पर ध्यान देते हुए उसमें समाज की भूमिका, समाज की जड़ें, तत्कालीन किसी विचारधारा का प्रभाव और उस रचना का

समाज को प्रभावित करने की क्षमता का विवेचन करते हैं।

साहित्य और समाज के अंत:संबंधों का निर्धारण अनादिकाल से होता आ रहा है। परंतु उन्नीसवीं सदी में समाजशास्त्री इस संबंध में समाज को साहित्य की उत्पत्ति और उसके स्वरूप को निर्धारण करने वाली शक्ति के रूप में और दूसरे साहित्य को समाज के दर्पण के रूप में देखते हैं। ये उक्तियाँ बहुत समय से प्रचलन में हैं लेकिन इन उक्तियों के अर्थ और चेतना को समाजशास्त्रीय संदर्भ में देखने पर कुछ प्रश्न स्वत: ही उत्पन्न हो जाते हैं। इस चिंतन से समाज से साहित्य का संबंध निर्धारणवादी ढंग से देखा जाता है जिसका आशय यह है कि समाज और साहित्य के बीच कार्य-कारण संबंध है। उस दृष्टि की मुख्य मान्यता यह है कि '*साहित्य समाज का दर्पण*' है। द्विवेदी युग में यह उक्ति काफी प्रचलन में थी। 'साहित्य समाज का दर्पण है' यह उक्ति काफी अस्पष्ट प्रतीत होती है क्योंकि इसकी एक सीमा यह है कि इसमें साहित्यकार की क्रियाशीलता उपेक्षित होती है। रचनाकार समाज या जीवन के अपने अनुभवों और उनके प्रति अपनी प्रतिक्रियात्मक अवधारणा को ही प्रतिबिंबित नहीं करता बल्कि उसकी पुनर्रचना भी करता है और इस पुनर्रचना में उसकी कल्पनाएं एवं आकांक्षाएं भी शामिल होती हैं। समाज सिर्फ उसके अंतर्वस्तु में ही नहीं बल्कि रूप और शिल्प में भी उपस्थित रहता है। इस प्रकार साहित्यकार समग्र समाज का चितेरा कभी हो ही नहीं सकता। '*साहित्य या साहित्यकार समाज का प्रतिनिधि है।*' यह धारणा भी प्रश्नचिह्न के घेरे में है क्योंकि प्रतिनिधित्व किसी निश्चित सामाजिक स्थिति या अवस्था का ही हो सकता है। इसके अलावा अभिव्यक्ति का एक रूप प्रतीकात्मक भी है। इस प्रकार दर्पणवादी दृष्टिकोण में शिल्प और शिल्प में छुपे समाज का वर्णन अवहेलित हो जाता है। इसलिए '*साहित्य न तो समाज का दर्पण है और न ही फोटोग्राफिक शैली में लिया गया उसका कोई चित्र*'। अगर ऐसा ही होता तो पाठक को साहित्य में कोई दिलचस्पी ही नहीं रहती, वह अपने आस-पास के समाज से ही सबकुछ देखकर संतुष्ट हो जाता। परंतु फिर भी इस दृष्टिकोण को पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता। इतनी आलोचना सहने के बाद भी उसकी यह मान्यता तो सही ही है कि किसी भी रचना को सार्थक बनाने के लिए उसके सामाजिक संदर्भ की जानकारी बहुत जरूरी है।

किसी रचना की अंतर्वस्तु, संरचना, शिल्प और भाषा सभी कुछ का गहरा रिश्ता समाज से होता है। इसी रिश्ते को पहचानने की कोशिश साहित्य का समाजशास्त्र करता है। इसके लिए लावेंथल रचना की अर्थवत्ता और सार्थकता की बात करते हैं तो गोल्डमान विश्व दृष्टि के विश्लेषण से रचना के मूल सामाजिक वर्ग, लेखक की सामाजिक चेतना और रचना की संरचना की बात करते हैं। रेमण्ड विलियम्स '*अनुभूति की संरचनाओं*' के अध्ययन पर बल देते हैं तो अडोर्नो रचना में सत्य की तलाश करते हैं। अतः सभी लोग साहित्य और समाज के आपसी सरोकार की बात करते हैं। डॉ. आलोक भट्टाचार्य साहित्य का समाज से संबंध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि साहित्य का समाजशास्त्र –"हमें बताता है कि साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमानों की खोज हमें साहित्य के ही भीतर नहीं, समाज की आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों के भीतर भी करनी चाहिए। यह हमें बताता है कि रचना अपने आप में कितना ही शब्द-सौंदर्य, पद-लालित्य, भाव-सौष्ठव क्यों न लिए हो, जब तक वह समाज के हित में नहीं होगा, साहित्य नहीं होगा।"[17] किसी काल की कला की विभिन्न शैलियों से उस काल की सामाजिक संरचनाओं का संबंध जोड़ना अनिवार्य या मजबूरी हो सकती है, पर यह नहीं कहा जा सकता है कि दोनों में कोई अंतर नहीं है, चाहे दोनों में कितना भी घनिष्ट संबंध क्यों न हो, इसलिए अर्नल्ड हाउजर ऐसे संबंध जोड़ने में धोखा होने की संभावना भी व्यक्त करते हैं।

साहित्य में समाज की खोज की एक और दिशा कल्पना की क्रियाशीलता हो सकती है। इस पर ध्यान देने से व्यक्ति के जीवन की वास्तविक अनुभूतियों का बोध, यथार्थ की चेतना, चरित्रों का निर्माण, साहित्यिक साक्ष्यों का ठीक से उपयोग, भाव-विचारों की सठिक व्यंजना, रूप-शिल्प और भाषा की भंगिमाओं का विकास की जानकारी सबकुछ कल्पना की मदद से ही मिल सकता है जो किसी अन्य स्रोत से नहीं मिल सकता। साहित्य में कल्पना के सर्जनात्मक रूप की आलोचना एवं व्याख्या हमेशा से होता रहा है लेकिन साहित्यिक-कल्पना

---

17. गुप्ता विश्वंभर दयाल (संपा.), 'साहित्य : समाजशास्त्रीय संदर्भ' (आलेख –आलोक भट्टाचार्य), साहित्य का समाजशास्त्र, प्रथम संस्करण : 1987, सीता प्रकाशन, मोती बाजार हाथरस-204101 (उत्तर प्रदेश), पृष्ठ संख्या – 53

में सामाजिकता की खोज साहित्य के समाजशास्त्र का विषय है। विभिन्न विधाओं की रचनाओं में कल्पना की क्रियाशीलता अलग-अलग होती है। यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक और प्रतीक, बिंब, फैंटसी युक्त रचनाशीलता में कल्पना की भूमिका अलग-अलग होती है। साहित्य के समाजशास्त्र में साहित्य के ज्ञानात्मक पक्ष को समझने के लिए कल्पना की समझदारी बहुत आवश्यक है। अब साहित्य के साथ-साथ समाजशास्त्र में भी कल्पना के महत्व पर विचार शुरू हो गया है –"रिचर्ड होगार्ड ने साहित्यिक कल्पना से समाजशास्त्रीय कल्पना का संबंध स्पष्ट करते हुए बताया है कि जिसे हम रचनाकार की कल्पना या अंतर्दृष्टि कहते हैं वह समाज की उसकी समझ का ही पर्याय है। अगर साहित्यिक कल्पना समाज के बारे में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि देती है तो उसके महत्व को केवल साहित्यिक मूल्यों के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता।"[18] इस तरह रिचर्ड होगार्ड मानते हैं कि एक रचनाकार और समाजशास्त्री का समाज के बारे में सोच में काफी समानता पाई जाती है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की एक और दिशा साहित्य के सामाजिक भूमिका के विश्लेषण से है। यह साहित्यिक रचनाएं समाज के उपर अपना प्रभाव छोड़ती हैं कि नहीं पारंपरिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों को तोड़कर नई विचारधारा को ग्रहण कराने में सक्षम होती हैं कि नहीं? रचनाएं लोगों के हृदय परिवर्तन कराने में सक्षम हैं कि नहीं? स्वतंत्रता संग्राम के समय जिस प्रकार अंग्रेजों ने कविताओं, कहानियों, नाटकों, उपन्यासों, पत्र-पत्रिकाओं पर कठोरता से रोक लगाया था इससे तो स्पष्ट है कि रचनाओं का समाज पर पड़ने वाले प्रभाव से अंग्रेज घबरा गए थे। इस तरह रचनाकार अपने रचनाओं के माध्यम से समाज को संवेदनशील और चेतनासंपन्न बनाता है।

साहित्य और साहित्यकार

साहित्य में समाजशास्त्र की दूसरी दृष्टि समाज में लेखक के महत्व की पहचान व्यक्ति

---

18. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – 18

और सर्जक दोनों रूपों में करने पर बल देती है। अर्थात साहित्य चिंतन का प्रमुख लक्ष्य समाज में साहित्य और साहित्यकार की वास्तविक स्थिति का आकलन करना है। साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन धारा के आरंभिक विचारकों में तेन ही हैं जिन्होंने मनुष्य को जानने पर बल दिया। वह मनुष्य जो लेखक है और कृति में व्यक्त मनुष्य भी। उनका मानना है कि - -"कोई भी साहित्यिक कृति उस आवरण या कवच की तरह होती है, जिसके भीतर जीव छिपा रहता है, जिस तरह जीव के विषय में जानने के लिए उसके बाहरी आवरण या खोल को हटाना पड़ता है। उसी तरह कोई पुस्तक या साहित्यिक कृति निर्जीव होते हुए भी किसी जीवंत अस्तित्व की ओर संकेत करती है। हमें उस अस्तित्व को पहचानना पड़ता है, उसे पुनर्निर्मित करना पड़ता है।"[19] जाहिर है कि समाज में साहित्य और साहित्यकार की स्थिति परिवर्तनशील है। आज समाज में साहित्यकार को वह सम्मान नहीं प्राप्त है जो कभी कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी, कालीदास आदि को प्राप्त था। समय के साथ समाज की स्थितियाँ बदलती हैं और उसी के अनुरूप साहित्यकार की स्थिति में भी परितर्वन हुआ है जिसकी छाप उसकी रचनाओं पर पड़ना स्वाभाविक है। वर्तमान समस्याओं का हल हमें प्राचीन साहित्य में नहीं अपितु आज के समाज में स्थित साहित्य के समाजशास्त्र में ढूँढ़ना चाहिए। आज साहित्य और साहित्यकार के बीच पुस्तक बाजार आ गया है। तुलसीदास ने रामकाव्य की रचना '**रमाचरितमानस**' के रूप में तथा मैथिलीशरण गुप्त ने '**साकेत**' के रूप में स्वतः सुखाय हेतु किया, परंतु गुप्त जी को '**साकेत**' के लिए अच्छी खासी धनराशि की प्राप्ति हुई। आज लेखकों के बीच प्रकाशन, प्रसिद्धि और पुरस्कार के लिए जोड़-तोड़ का होड़ मचा हुआ है। ऐसे ही साहित्यकारों का साहित्य के नाम पर लिखी-प्रकाशित होती रहती कुछ ऐसी रचनाएं भी हैं जिनसे समाज को हानिग्रस्त होने की संभावना बनी रहती है। ऐसे साहित्यकार ही अतीत का ओट ढूँढ़ते हैं। अतः साहित्य और साहित्यकार की आज की स्थिति का विवेचन साहित्य का समाजशास्त्र करता है।

प्राचीनकाल में अधिकतर कलाकार अनाम ही रहते थे। अजंता-एलोरा की वस्तुकला,

---

19. श्रीवास्तव गरिमा, 'उपन्यास का समाजशास्त्र', प्रथम संस्करण : 2010, सुजन्या बुक्स, दिल्ली, पृष्ठ –भूमिका से XII-XIII

मूर्तिकला और चित्रकला के महान शिल्पकारों को कोई नहीं जानता। इसी प्रकार बहुत से साहित्यकार गुमनामी के अंधेरे में खो जाते थे। साहित्य का समाजशास्त्र लेखकों के साथ न्याय करता है। इसमें लेखक की पहचान की बात होती है। समाज से उसका संबंध, उसकी सामाजिक स्थिति, आस्था, जीविका, आश्रय, प्रतिभा और मानसिकता का अध्ययन होता है। फ्रांस के रोबेर एस्कार्पी का मानना है –"लेखक, पुस्तक और पाठक के अंतःसंबंध की जानकारी से ही समाज में साहित्य और साहित्यकार की वास्तविक स्थिति मालूम हो सकती है। एस्कार्पो ने साहित्य को एक सामाजिक उत्पादन मानकर पूरी साहित्य प्रक्रिया का विवेचन किया है जिसमें साहित्य के उत्पादन, वितरण और उपभोग के अंतर्गत विभिन्न समस्याओं पर विचार हुआ है।"[20] आज के समाज में लेखक को बुद्धिजीवी कहा जाता है। परंतु हिंदी में कम से कम अभी तक तो यह स्थिति नहीं है कि लेखक, लेखन के अलावा बिना कोई मजदूरी किये अपनी जीविका चला पावे अर्थात यहाँ पेशेवर लेखक नगण्य हैं। शौकिया लेखक अधिक हैं। अधिकांशतः लेखकों को लेखन के साथ अपनी जीविका निर्वाह के लिए छोटा-मोटा रोजगार करना ही पड़ता है। सत्ता और साहित्यकार का संबंध आज भी बहस का विषय बना हुआ है। जब तक साहित्यकार सत्ता के पक्ष में है या मौन है तब तक सबकुछ ठीक है, ज्योंहि साहित्यकार सत्ता के विरुद्ध कुछ बोला, शासन की बंदूक चलनी शुरू हो जाती है।

किसी पुस्तक के साहित्य की साहित्यिकता को तय करने में आलोचना की प्रमुख भूमिका होती है। यह साहित्य के उत्पादन, वितरण और उपभोग की प्रक्रिया में सक्रिय विभिन्न संस्थाओं के आपसी सहयोग का मूल्यांकन करता है। आलोचना किसी भी रचना को मूल्यवान और मूल्यहीन बनाता है। वह पुस्तक के मूल्यों और मानदंडों को समाज की कसौटी पर कसकर उसकी साहित्यिकता का निर्धारण करता है। मैनेजर पाण्डेयय साहित्य की साहित्यिकता को बनाने-बिगाड़ने में विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग की भूमिका को भी कटघरे में खड़ा करते हैं। कई बार राजसता अपनी राजनीतिक सुविधानुसार विभिन्न पाठ्यक्रमों में कुछ

---

20. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – 20-21

चिह्नित साहित्य का ही प्रवेश करवाते हैं। आजकल संस्कृति के सरकारीकरण का चलन ही हो गया है।

पाठक समुदाय के बीच साहित्य

साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की एक और दिशा के अंतर्गत साहित्य और पाठक के संबंध पर विचार किया जाता है। आज कोई भी रचना पाठक के अभाव में निरर्थक है, इसलिए लेखकों को भी रचना करते समय अपने पाठकों की चिंता रहती है। इन्हीं में से कुछ पाठक आलोचक के रूप में सामने आते हैं, जिनसे छन कर कृति सार्थक बनती है। रोमांटिक काल में कृति से कृतिकार के संबंध का विश्लेषण ही आलोचना के केंद्र बिंदु थे। परंतु रूपवादी आलोचना में कृतिकार की जगह पाठक ने ले लिया। संरचनावादियों और संरचनावाद से प्रभावित मार्क्सवादियों ने भी लेखक के जगह पाठक को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। रोला बार्थ ने तो लेखन का लक्ष्य ही पाठक को बताया। तेन ने भी कृति और पाठक के संबंध पर विचार किया है और साहित्य के रूप के निर्माण तथा परिवर्तन में पाठकों की भूमिका की बात की है। अतः आज आलोचना, सौंदर्यशास्त्र या साहित्य का समाजशास्त्र सभी में पाठक की भूमिका केंद्र में है।

अतः साहित्य के समाजशास्त्र में रचना को उत्पादन की नहीं अपितु उपभोग की दृष्टि से परखा जाता है। पाठक उस रचना को क्यों खरीदेगा? पाठक की मानसिकता क्या है? पाठक पर उस रचना का क्या प्रभाव पड़ेगा? पाठक की उस रचना के प्रति क्या प्रतिक्रिया होगी? क्या उस कृति के अर्थ की पुनर्रचना की आवश्यकता है? इन सारी बातों का विवेचन साहित्य के समाजशास्त्र के अंदर किया जाता है। इससे किसी रचना की घटती-बढ़ती लोकप्रियता तथा पाठकीय अभिरुचि भी सामने आ जाती है।

आज सबसे अधिक पाठक शिक्षण संस्थाओं में है। परंतु शिक्षा संस्थानों में विभिन्न पाठ्यक्रमों के अंतर्गत जो साहित्य पढ़ा और पढ़ाया जाता है वह हमेशा छात्रों, शिक्षकों के लिए रुचिकर नहीं होता है। इसके साथ ही वह किसी कृति का एक अंश मात्र होता है। यहाँ छात्रों के रुचि का ध्यान नहीं रखा जाता है उन्हें पाठ्यक्रम में साहित्यिक विषय के चयन का अधिकार

भी नहीं होता है। इसलिए वे सिर्फ परीक्षा में अंक प्राप्त करने के लिए पढ़ते हैं। ऐसी स्थिति में अधिकांशतः छात्र रचना के स्थान पर सिर्फ आलोचना ही पढ़ते हैं और वह आलोचना भी संपूर्ण सार्थक होगी, इसकी कोई गारंटी नहीं। रचना के स्वतंत्र पाठकों की संख्या बहुत कम है। इसमें से कुछ लोग केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं तो बहुत थोड़े लोग अपने विचारों को परिष्कृत और पुष्ट करने के लिए साहित्य को पढ़ते हैं। इसमें एक ओर तो पाठक साहित्य के विकास में अपनी भूमिका निभाता है तथा दूसरी ओर अपनी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से रचना का प्रभाव और उसकी ग्राह्य क्षमता का प्रदर्शन भी कर देता है।

भारत में उन्नीसवीं सदी में प्रेस, प्रकाशन और पत्र-पत्रिकाओं के विकास के साथ आधुनिक गद्य विधाओं का विकास हुआ, तो उस समय के पाठक वर्ग की मानसिक स्थिति को समझना भी आवश्यक है। परंतु हमारे यहाँ लोकप्रिय साहित्य और उसके पाठकों के विचारों को सीधे खारिज कर दिया जाता था, यही कारण है कि उपन्यास के विकास पर बात करते समय प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों को महत्व नहीं दिया जाता है। परंतु यह भी सच है कि देवकीनंदन खत्री का रचना चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति को पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दू भाषियों ने हिंदी सीखी। किशोरीलाल गोस्वामी ने साठ-पैंसठ उपन्यासों के साथ 'उपन्यास' नामक पत्रिका भी निकाली। अतः इन लोगों ने मिलकर हिंदी का एक विशाल पाठक वर्ग तैयार किया, जिन पाठकों की मानसिक स्थिति को भांपकर आगे प्रेमचंद गंभीर साहित्य की रचना कर पाएं। अतः साहत्यि के समाजशास्त्रीय आलोचक लोकप्रिय साहित्य और शुद्ध साहित्यिक रचना को एक तराजू में रखकर तौलते हैं। उनके लिए रचना केवल एक उत्पादन है, जिसके उपभोग के उपर उसकी प्रसिद्धि निर्भर है।

साठ के दशक में जर्मनी में साहित्य के समाजशास्त्र का एक बार फिर प्रभाव बढ़ा। यहाँ की सामाजिक परिस्थितियों ने भी इसके विकास को गति दी। 1968 में पूरे यूरोप के साथ जर्मनी में भी छात्र आंदोलन हुए। इस आंदोलन में छात्रों की एक मांग यह भी थी कि विश्वविद्यालयों में साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को भाववादी-रूपवादी ढाँचे से बाहर निकालकर सामाजिक वास्तविकता से जोड़ा जाए। इस तरह पाठकीय प्रतिक्रिया पर आधारित आलोचना और रचना में समाजिकता की शुरुआत हुई।

वर्तमान समय में लेखक और पाठक का संबंध पहले की तुलना में काफी परिवर्तित हो चुका है। पहले श्रुति माध्यम होने के कारण लेखक सीधे समाज से संबंध स्थापित करता था, उसे अपने रचना का स्रोता पता होता था परंतु वर्तमान समय में प्रेस के उदय ने पाठक वर्ग तैयार किया है। अभी लेखकों को भी अपने पाठकों का सठिक अंदाजा नहीं रहता है क्योंकि अब लेखक और पाठक के बीच में बाजार मौजूद है जहाँ लेखक एक उत्पादक, कृति एक उत्पाद है, जो पाठक के उपभोग के लिए है। यही कारण है कि आजकल रचनाकार भी रचना से पाठक के संबंध को विशेष महत्व दे रहे हैं। इससे लेखक के पाठक पैदा करने की अपनी क्षमता का भी आंकलन हो जाता है।

साहित्य में समाजशास्त्र का विरोध

साहित्य के समाजशास्त्र का सबसे अधिक विरोध रूपवादियों ने किया। वे साहित्य-संसार को एक स्वायत्त संस्था मानते हैं। वे रचना की अस्मिता, विशिष्टता और स्वायत्तता को महत्व देते हैं, न कि उससे सामाजिक संबंध को। वे साहित्य का संबंध उसकी अंतर्वर्ती आलोचना में देखते हैं और साहित्य से समाज के संबंध को बाहरी घुसपैठ मानते हैं। वे साहित्य के समाजशास्त्र को साहित्य से बाहर की आलोचना मानते हैं। इसलिए वे इसका विरोध करते हैं। उनका यह भी मानना है कि समाजशास्त्रीय आलोचना में सामाजिक परिवेश, आधार रचना के सामाजिक संबंध का विश्लेषण किया जाता है। इसलिए यह अंतर्वस्तुवादी आलोचना की श्रेणी में आ जाता है और रूप इसमें उपेक्षित रह जाता है। इस विषय पर लंबे समय से रूपवादियों और समाजशास्त्रियों के बीच बहस चली आ रही है। इंग्लैंड और अमेरिका में विकसित समीक्षा के नए रूप ने साहित्य के समाजशास्त्र के प्रत्येक रूप का विरोध किया। टी.एस. इलियट साहित्य की साहित्यिकता उसकी अंतर्वर्ती आलोचना और उसकी महानता उसकी धार्मिक और दार्शनिक कसौटी पर कसते हैं। वे साहित्य के समाजशास्त्र को साहित्यिक आलोचना की कोटी से ही बाहर कर देते हैं। उनके अनुसार साहित्यिक आलोचना वे हैं जो साहित्य को समझने में मदद देने के साथ-साथ आनंद भी दे। साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य को समझने में मदद तो दे सकता है लेकिन सुख हमेशा नहीं दे सकता है। इसीलिए टी.एस. इलियट साहित्य के समाजशास्त्र का विरोध करते हैं। एफ. आर. लिवीस भी इलियट का

अनुसरण करते हुए समाजशास्त्रीय आलोचना का विरोध करते हैं। उनका मानना है कि समाज कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में जीवित रहता है और साहित्य इन विशिष्ट व्यक्तियों के स्वभाव में। इस तरह वे कुछ मुट्ठीभर लोगों का प्रतिनिधित्व करते नजर आते हैं जो खुद को संस्कृति, कला और मूल्यों का संरक्षक मानते हैं। उनका यह भी मत है कि किसी कृति के निर्माण में आर्थिक और भौतिक परिवेश का प्रभाव नहीं पड़ता है। सृजन का बीज ही मूल है जो रचनाकार के व्यक्तित्व में निहित रहता है। अतः इसी दृष्टिकोण से वे भी साहित्य के समाजशास्त्र का विरोध करते हं –"लीविस ने लिखा है कि अगर साहित्य में सच्ची, गहरी, विवेकशील और आलोचनात्मक दिलचस्पी न होगी तो साहित्य के किसी समाजशास्त्र का विकास न होगा।"[21] यहाँ दिलचस्पी से उनका तात्पर्य साहित्य के अंतर्वर्ती गुणों, भाषा की सूक्ष्मताओं, विचारों, अनुभवों एवं साहित्यिकता की प्रतिष्ठा से है और साहित्यिकता की यह प्रतिष्ठा समाजिकता की कीमत पर है। अतः साहित्य के समाजशास्त्र का विरोध स्वाभाविक है।

आधुनिक काल में कुछ लोग साहित्य के समाजशास्त्र का विरोध उसकी भाषा प्रयोग के कारण भी करते हैं। साहित्य के समाजशास्त्र में कृति को वस्तु, कृतिकार को उत्पादक, रचना की समझ को उपभोग कहा जाता है। इस भाषा को सुनकर बहुत सारे लोग चिढ़ते हैं। परंतु यह स्थिति सिर्फ साहित्य के क्षेत्र में है। फिल्म भी कला का ही एक रूप है। आज के युग में इस फिल्म का सर्वाधिक प्रभाव समाज पर पड़ता है। इसमें अभिनेता, निर्देशक, कथाकार, फोटोग्राफर, संगीतकार, गायक, वादक, नर्तक, संगीत विशेषज्ञ, तकनीशियन आदि का सामुहिक योगदान होता है। इसके अतिरिक्त इसमें पूंजी की आवश्यकता पड़ती है और बाजार की चिंता भी रहती है। यहाँ भी स्थिति उत्पादन, उत्पादक और उपभोग की है। दर्शक यहाँ समूह के रूप में फिल्म का उपभोग करते हैं और उसके सफलता, असफलता का निर्णय भी करते हैं। यहाँ उत्पादन, उत्पादक और उपभोग की भाषा में बात करने में जब कोई विरोध नहीं होता है तो साहित्य के समाजशास्त्र के क्षेत्र में यह भेदभाव क्यों? हाँ यह भी सत्य है कि सभी

---

21. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – 38

फिल्में समाज पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ती हैं।

साहित्यानुशीलन की सामाजिक दृष्टि : भारतीय परंपरा

भारत में साहित्यानुशीलन की परंपरा बहुत प्राचीन रही है पर साहित्य चिंतन में सामाजिक दृष्टि का विकास आधुनिक युग की बात है। साहित्यानुशीलन के सामाजिक दृष्टि के दो रूप हैं। एक में साहित्य के अंदर सामाजिक अभिव्यक्ति की खोज की जाती है। इसमें समाज के यथार्थपरक रूप और चेतना का समन्वय मिलता है। साहित्यानुशीलन के सामाजिक दृष्टि के दूसरे रूप में साहित्य एक प्रेरक शक्ति के रूप में काम करता है, वह समाज को परिवर्तित और विकास को प्रभावित करता है। इसमें पाठक और साहित्य के संबंध पर विचार के साथ-साथ पाठकीय अभिरुचि तथा साहित्य का पाठक के उपर प्रभाव का भी विवेचन किया जाता है। इस नई दृष्टि की शुरुआत 1881 में बालकृष्ण भट्ट के **'हिंदी प्रदीप'** में प्रकाशिता एक लेख से माना जा सकता है जिसमें उन्होंने '*साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास*' माना है। अर्थात इस नई धारणा के साथ जातीय साहित्य के विकास की धारणा विकसित हुई और इस जातीय साहित्य को जाति के जीवन से जोड़कर देखा गया। उन्होंने आगे लिखा है –'*प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्य के हृदय का आदर्श रूप है।*' अर्थात किसी समय का साहित्य हमें उस निश्चित कालखंड में उस राष्ट्र और समाज की भावनाएँ, सामाजिक स्थितियों को प्रतिबिंबित कर देता है। भट्ट जी साहित्य के विकास और परिवर्तन को जाति के जीवन, भाषा के विकास और परिवर्तन के साथ संबंध मानते हैं।

बालकृष्ण भट्ट के सामाजिक दृष्टि का विकास उन्नीसवीं सदी में महावीर प्रसाद द्विवेदी में देखने को मिलता है जिन्होंने लिखा –'*ज्ञान-राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है।*' उन्होंने साहित्य को समाज का दर्पण माना। साहित्य के परिवर्तन और विकास का संबंध समाज के परिवर्तन और विकास से जोड़ा। उन्होंने कहा कि जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होगी उसका साहित्य भी वैसा ही होगा। अर्थात उन्होंने सामाजिक विकास का सीधा संबंध साहित्यिक विकास से जोड़ते हुए जातियों की क्षमता और सजीवता का प्रतिबिंब साहित्य को माना। द्विवेदी जी की धारणा साहित्य के प्रति सिर्फ दर्पणवादी ही नहीं थी वे इससे भी आगे

बढ़कर अपने समकालीन रचनाकारों को ललकारते हुए सामाजिक रचना रचने को प्रेरित करते हैं। वे रचनाकारों को कैली-कौतूहल से बाहर निकलकर दूसरे देशों के साहित्यकारों से शिक्षा लेते हुए रचना के माध्यम से समाज में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित करते हैं। वे अपने रचनाकारों को आँख उठाकर उन देशों और जातियों की ओर देखने को कहते हैं, जहाँ साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन ला दिए हैं। साहित्य ने बहुत से देशों की सामाजिक दशा-दिशा बदल दी है, धार्मिक कट्टरता को समाप्त कर दिया है तथा राजनीतिक उथल-पुथल मचा दिया है। वे अपने साहित्यकारों को साहित्य में छुपी हुई शक्ति को पहचानने को उत्साहित करते हैं। वह अपने साहित्यकारों को स्मरण करा देना चाहते हैं कि यह वही शक्ति है जिसने यूरोप में जातीय स्वतंत्रता के बीज बोये, पतित देशों का पुनरुत्थान किया, पोप की प्रभुता कम की, फ्राँस में गणतंत्र की स्थापना की, इटली का मस्तक ऊँचा किया।

साहित्य के सामाजिक दृष्टि का सुसंगत ढंग से वर्णन करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे जनता के चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब माना है। उन्होंने लिखा है –"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखलाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।"[22] जनता की चित्तवृत्तियाँ सामाजिक, राजनीतिक प्रभावों से प्रभावित होती है और साहित्य को भी प्रभावित करती है। इस तरह समाज और चेतना के विकास के साथ-साथ साहित्य का विकास होता है।

---

22. शुक्ल आचार्य रामचंद्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', संस्करण : 1981, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, पृष्ठ संख्या – 1

साहित्य का समाजशास्त्र और मादाम स्तेल

साहित्य के समाजशास्त्र का प्रवर्तक फ्राँसीसी विचारक तेन को माना जाता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि तेन के पहले फ्राँस में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की शुरुआत मादाम स्तेल ने कर दी थी, तेन ने उसका उपयोग किया। स्ताल ने अपनी पुस्तक **'सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार'** में पहली बार साहित्य और समाज के आपसी संबंधों पर व्यवस्थित ढंग से विचार शुरू किया। साहित्य के स्वरूप और शैली पर प्राकृतिक परिवेश और प्रजाति से संबंध का विवेचन किया। यद्यपि यह विवेचन अपरिपक्व है और सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध का विवेचन भी पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं है। परंतु प्रथम प्रयास के रूप में एक नई शुरुआत से इन्कार नहीं किया जा सकता है। मादाम स्ताल राजनीति से साहित्य का निकटतम संबंध की पक्षधर थीं। उस समय फ्राँसीसी साहित्य में आम जनता को केवल उपहास और कॉमेडी के पात्र के रूप में ही जगह मिल पाती थी, स्ताल इसका विरोध करती हैं। उनकी मांग थी कि आम जनता और किसानों को ट्रेजडी जैसी साहित्य के गंभीर विद्या में प्रमुख पात्र का स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने न्याय और स्वतंत्रता के लिए चलने वाले आंदोलनों के चित्रण में भी साहित्य से सहयोग मांगा है। उन्होंने साहित्य के विकास का संबंध समाज के विकास से जोड़ा है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप मध्यवर्ग का उदय हुआ जिसके फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास का उदय हुआ। मादाम स्ताल उपन्यास के उदय को नारी स्वाभिमान से भी जोड़कर देखती हैं, उनका स्पष्ट मानना है कि जिस समाज में नारी को सम्मान नहीं मिलता, उन्हें हीन और गुलाम समझा जाता है वहाँ उपन्यास का उदय नहीं होगा। इन्होंने इंग्लैंड में उपन्यास के उदय का मूल कारण नारी-पुरुष के संबंधों में गहरी रुचि को माना। इनके विचारों को तेन ने आगे बढ़ाया। तेन ने जितना साहित्य पर लिखा है उतना ही समाजशास्त्र पर भी लिखा है। इसलिए कुछ लोग इन्हें समाजशास्त्री मानने से भी इन्कार करते हैं। तेन की दृष्टि वैज्ञानिक है और वैज्ञानिक दृष्टि न किसी की निंदा करती है और न प्रशंसा। वह तो सिर्फ व्याख्या करती है, विशेषता बताती है। वह हर व्यक्ति को उसके रुचि के अनुसार कला को अपनाने की छूट देती हैं। वह परस्पर विरोधी कलाओं को भी समान दृष्टि से देखती हैं। तेन के चिंतन की दृष्टि मानवतावादी है। वे समाज, सभ्यता,

संस्कृति, कला, साहित्य और भाषा का विकास का लक्ष्य मनुष्य के ज्ञान के पक्ष में मानते है।

साहित्य के समाजशास्त्र का स्वरूप

तेन ने अपने साहित्यिक रचनाओं का आधार सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक अस्तित्वों और सामाजिक संबंधों को बनाया इसलिए उनके साहित्य में सामाजिक स्वरूप के वर्णन के विषय में कोई संदेह ही नहीं है। तेन ने अपनी रचना 'अंग्रेजी साहित्य के इतिहास' की भूमिका में लिखा है कि कोई भी रचना अपने समय के रीति-रिवाजों का पुनर्लेखन है और एक विशेष प्रकार की मानस की अभिव्यक्ति। उन्होंने समाज से साहित्य के संबंध की वस्तुपरक व्याख्या की। उनके अनुसार साहित्य के समाजशास्त्र के चार प्रमुख पक्ष हैं – (1) साहित्य के भौतिक सामाजिक मूलाधार की खोज (2) लेखक के महत्व का विश्लेषण (3) साहित्य में समाज के प्रतिबिंबन की व्याख्या और (4) साहित्य का पाठक से संबंध।

तेन साहित्यिक कृतियों के उत्पत्ति के कारण को ढूँढते हैं। उनका मानना है कि नैतिक, अनैतिक सभी तथ्यों के कारण होते हैं। वे कला या रचना को साहित्यिक उत्पादन मानते हैं। इसलिए सबसे पहले उस कला या रचना के उत्पादक कलाकार या रचनाकार को ढूँढते हैं फिर बाद में उस उत्पादन की परिस्थितियों पर विचार करते हैं। उनका मानना है कि कला, कलाकार के मस्तिष्क की उपज है लेकिन वह मस्तिष्क अपने परिवेश, युग और प्रजाति से संबंधित रहता है जिससे उसके चेतना का विकास होता है जो साहित्य निर्माण का कारण बनता है। बाकी बिंदुओं की व्याख्या शोधार्थी पहले कर चुका है।

साहित्य के समाजशास्त्र की आवश्यकता

आजकल साहित्य के पाठकों की संख्या में दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है जिससे प्रेस और प्रकाशन व्यवस्था पर खतरे की घंटी लटक रही है। अभी कुछ दशक पहले तक सहकारी व्यवस्था के सहयोग से भारत के अहिंदी भाषी राज्यों में गंभीर साहित्य के एक विशाल पाठक समुदाय का विस्तार हुआ था, परिणामस्वरूप एक व्यापक साहित्यिक जागरण का प्रादुर्भाव हुआ और कलात्मक साहित्यिक लेखन तथा प्रकाश्न की आंधी चल पड़ी। दुर्भाग्यवश कुछ दशकों के बाद वर्तमान में ठीक इसके विपरीत ध्रुव हमें देखने को मिल रहे हैं। आज साहित्य

के पाठकों की संख्या निरंतर घट रही है, कलात्मक साहित्य से पाठक मुँह मोड़ रहे हैं तो इसके कारणों पर विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। आज सूचना और संचार के क्षेत्र में जो क्रांति आई है उसने पूरे विश्व को एक ग्लोबल विलेज में परिणित कर दिया है। दृश्य-श्रव्य माध्यम के रूप में टी.वी., मोबाइल, इंटरनेट का जनमानस के मस्तिष्क पर दिन-रात प्रहार हो रहा है। पहले सतही और सस्ते बाजारू पत्रिकाओं ने भी कलात्मक साहित्य के धार को कुछ कुंद किया, पर अब इंटरनेट के प्रभाव ने इन सतही बाजारू पत्रिकाओं का अस्तित्व भी संकट में डाल दिया है।

हिंदी में भी यह समस्या अब घर करने लगी है। आज स्नातक स्तर तक के छात्र-छात्राएं साहित्यिक पुस्तक खरीदने से कतराते हैं। इंटरनेट पर उपलब्ध थोड़ी-बहुत अधकचरी आलोचनात्मक जानकारी से ही वे पुष्ट होते हैं। अधिकांशतः छात्र मूल साहित्यिक कृति से अनभिज्ञ रहते हैं। समाज और व्यक्ति के जीवन में पुस्तकों की आवश्यकता या समाज में पुस्तकों का महत्व आदि विषयों पर अब चर्चा-परिचर्चा का आयोजन हिंदी में भी होने लगा है जो इस बात का द्योतक है कि साहित्य के पाठक की कमी का यह संकट कितना गहरा है। आज खोये हुए साहित्यिक पाठकों को फिर से पाने की चुनौती साहित्य के लेखकों के पास है। उनके सामने उन कारकों को पहचानने और उसके निपटान की भी चुनौती है जिन्होंने साहित्य और पाठक के बीच खंदक खोदा है। आज इस समस्या को सही ढंग से समझने और उसके समाधान की ओर बढ़ने की आवश्यकता है क्योंकि जितना चिंतित गंभीर साहित्य के लेखक हैं उतना ही परेशान कलात्मक साहित्य के पाठक भी हैं। यह वर्तमान समाज में साहित्य के सामाजिक अस्तित्व की समस्या है। इस संबंध में डॉ. मैनेजर पाण्डेयय का कहना है –"साहित्य के बारे में रोमांटिक मान्यताओं और मिथकों से न तो इस समस्या को समझना संभव है और न साहित्य को संकट से बचाना। ऐसे सभी समसयाओं को समझने में साहित्य का समाजशास्त्र ही सहायक हो सकता है।"[23]

---

23. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – IX

वैश्वीकरण के इस दौर में आज कोई भी चीज बाजारवाद से बाहर नहीं है, तो हमारी संस्कृति और कला भला इसका अपवाद कैसे रहे? आज पाठकों और पुस्तकों के बीच बाजार है, कागजों और छपाई की कीमतों तथा डाक व्यय के खर्च में भारी वृद्धि ने लिखना, छपना तथा पाठकों तक पहुँचना मुश्किल कर दिया है। सत्ता का हमेशा बुद्धिजीवियों से छत्तीस का आँकड़ा रहा है इसलिए बुद्धि विरोधी अभियान के तहत वे भी इस क्षेत्र में कोई सकारात्मक कदम नहीं उठाते हैं। मैनेजर पाण्डेयय इस समस्या के समाधान में समाजशास्त्र की भूमिका की बात करते हैं –"ये समस्याएँ आज के ऐतिहासिक-सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पक्षों से साहित्य के वास्तविक संबंधों की समझ की मांग करती है। ऐसी समझदारी के विकास में साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका जग जाहिर है।"[24]

तेन ने साहित्य से पाठक के संबंध पर भी विचार किया है और साहित्य के रूप के निर्माण तथा परितर्वन में पाठकों की भूमिका को रेखांकित किया है। एलेन स्वींग्वुड इसे साहित्य के समाजशास्त्र के क्षेत्र में तेन का बड़ा योगदान मानती हैं। तेन ने लिखा है कि साहित्य हमेशा उनलोगों के अनुरूप पनपता है जो उसे पसंद करते हैं और जो उसकी कीमत चुकाने में सक्षम हैं। यही कारण है कि सत्रहवीं सदी का फ्राँसीसी नाटक सामंतवर्ग और दरबारी संस्कृति से प्रभावित था। भारत में भी इसे दरबारी काव्य परंपरा से समझा जा सकता है तो आज के कवियों के दिल्ली दौड़ से। दिल्ली में प्रकाशक, रेडियो, टी.वी. पत्रिकाएं, अखबार, सरकारी-गैर सरकारी कार्यालय इत्यादि हैं। अतः छपने तथा प्रसिद्ध होने के लोभ में कवियों का जोड़-तोड़ के साथ दिल्ली दौड़ जारी है।

किसी भी रचना के लिए व्यापक पाठकवर्ग तैयार करना और पाठकों की दिलचस्पी उस रचना के प्रति बनाये रखना, यह हिंदी आलोचना के सामने भी एक बड़ी चुनौती है। प्रायः कुछ अभिजनवादी साहित्यिक आलोचक किसी कृति का ऐसी व्याख्या कर देते हैं कि साधारण

---

24. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – X

पाठक के लिए वह दुरूह और रहस्यमय बन जाती है। ऐसी स्थिति में उस आलोचना की पहुँच मुट्ठीभर विशिष्ट लोगों तक सीमित हो जाती है। रचनाकार अपनी विद्वता दिखाने के लिए भाषा को इतना जटील बना देते हैं कि कि साधारण पाठक का उससे मोहभंग हो जाता है और वह उस आलोचना से दूर भाग जाता है। साहित्य का समाजशास्त्र इस बनावटी रहस्यमयता से पर्दा उठाकर साहित्य के सामाजिक स्वरूप से पाठक का गठजोड़ करवाता है, उनमें साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करता है–"साहित्य का समाजशास्त्र व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के भीतर क्रियाशील संपूर्ण साहित्य प्रक्रिया की विभिन्न गतियों और परिणितयों की व्याख्या करते हुए साहित्य के वास्तविक सामाजिक स्वरूप की पहचान कराता है और उसमें साधारण पाठकों की दिलचस्पी जगाता है। इस तरह वह रचना और आलोचना दोनों की सामाजिक सार्थकता बढ़ाता है।"[25] आज आलोचना जो बौद्धिक वाग्विलास का केंद्र बना हुआ है। मैनेजर पाण्डेयय इसे साहित्य के लिए गंभीर चुनौती मानते हैं। उनका स्पष्ट मानना है कि साहित्य की सार्थकता उसकी सामाजिकता को उजागर करने में है। ऐसे में '*साहित्य का समाजशास्त्र*' आलोचना की सामाजिक सार्थकता की रक्षा का एक माध्यम बन सकता है।

साहित्य का आलोचक, आलोचना को एक निश्चित पारंपरिक रहस्यमय, बिंब-विधान, लाक्षणिकता, लय, चरित्रांकन, कथानक की द्वंद्वात्मकता की दृष्टि से देखता है। वह किसी नए विचार को संदिग्धता की दृष्टि से देखता है और बिना विचार-विश्लेषण किये ही उसे खारिज कर देता है। ऐसे ही कुछ आलोचक 'साहित्य के समाजशास्त्र' को भी पारंपरिक आलोचना के विरुद्ध एक साजिश करार देते हैं।

साहित्य का समाजशास्त्र किसी रचना का केवल यूँ ही व्याख्या नहीं करता है बल्कि वह रचना की व्याख्या उसके सामाजिक अस्तित्व और सामाजिक संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में करता है। अर्थात वह रचना किस सामाजिक संरचना और साहित्यिक गतिविधियों के बीच लिखी गई?

---

25. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – XI

उसके पाठक कौन हैं? पाठक तक रचना की पहूँच के लिए प्रकाशक और वितरण की क्या व्यवस्था है? और सबसे बड़ी बात, रचना के उपर अच्छे या बुरे के रूप में पाठक की प्रतिक्रिया। इन सारी कसौटियों पर कसकर कोई रचना साहित्य बनती है और रचना का साहित्य बनाने वाली इस प्रक्रिया का विश्लेषण केवल 'साहित्य का समाजशास्त्र' में होता है। किसी दूसरी आलोचना पद्धति में नहीं।

फिर भी जो लोग दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास और भाषाविज्ञान की दृष्टि से साहित्य के विश्लेषण का समर्थन करते हैं, वे भी साहित्य के समाजशास्त्रीय व्याख्या का विरोध करते हैं और जो थोड़े-बहुत लोग इसका समर्थन करते हैं उनके व्याख्या की विश्वसनीयता भी संदिग्ध है। इसलिए कुछ आलोचक साहित्य के विश्लेषण की एक निश्चित दृष्टि विकसित कर इसकी विश्वसनीयता बढ़ाने की बात करते हैं। समाजशास्त्रीय आलोचना सुनिश्चित दृष्टि पर जोर देती है और साथ ही साथ कट्टरता का विरोध भी करती है। अर्थात साहित्य का समाजशास्त्र अपनी दृष्टि के साथ-साथ साहित्य को दूसरी दृष्टियों से भी जाँचने-परखने में तत्पर है। वह साहित्य के सभी रूपों और पक्षों की समग्रता पर जोर देता है। साहित्य के तीन पक्ष लेखक, रचना और पाठक हैं। साहत्यि के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में इन तीनों में से किसी एक पक्ष की उपस्थिति अवश्य रहती है। कभी-कभी एक साथ इन तीनों पक्षों का या इनके आपसी संबंधों का भी विश्लेषण होता है अर्थात इसमें एक साथ कलात्मक और लोकप्रिय साहित्य के सामाजिक संदर्भों और आवश्यकताओं का वर्णन होता है। मैनेजर पाण्डेयय के अनुसार, 'केवल साहित्य के समाजशास्त्र में ही साहित्य-प्रक्रिया के अनुभवों और तथ्यों का व्यावहारिक विवेचन होता है, जिसमें साहित्य के लेखन, प्रकाशन, वितरण और उपभोग की पूरी व्यवस्था की भूमिका स्पष्ट होती है। इससे एक ओर साहित्य चर्चा हवाई होने से बचती है तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास लेखन में भी मदद मिलती है।"[26]

---

26. पांडेय मैनेजर, 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', तृतीय संस्करण : , हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, हरियाणा, पृष्ठ संख्या – XIII

इससे यह स्पष्ट है कि अब साहित्य को सिर्फ आंतरिक नहीं बल्कि इसे बाह्य दुनिया के परिप्रेक्ष्य में भी समझने की आवश्यकता है। आलोक भट्टाचार्य के शब्दों में –"लेखक की प्रतिभा यानी उसकी संवेदनशीलता, भावबोध और चेतना, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा और उसकी विचारधारा, सभी कुछ का गहरा रिश्ता समाज से होता है। इसी रिश्ते को पहचानने की कोशिश साहित्य का समाजशास्त्र करता है। यह हमें बताता है कि साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमानों की खोज हमें साहित्य के भीतर ही नहीं, समाज की आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों के भीतर भी करनी चाहिए। यह हमें बताता है कि रचना अपने-आप में कितना ही शब्द-सौंदर्य, पद-लालित्य, भाव-सौष्ठव क्यों न लिए हो, जब तक वह समाज के हित में नहीं होगा, साहित्य नहीं होगा। अपने तमाम रूप-रस-भाव सौंदर्य के बावजूद जब तक लेखक समाज के हित में, समाज के विकास में समाज में वर्तमान स्थितियों के अध्ययन में, समाज की समस्याओं से जूझने का काम नहीं आएगा, तब तक वह साहित्य नहीं कहलाया जा सकेगा। समाज से साहित्य के इसी सरोकार का अध्ययन साहित्य का समाजशास्त्र करता है।"[27]

साहित्य के समजाशास्त्र की विशेषता

"साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य के अध्ययन और मूल्यांकन की एक शाखा है जिसमें साहित्य और समाज के संबंधों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में साहित्य के अध्ययन की विधियाँ, नाटकीय प्रस्तुति, रचनाकारों और पाठकों की सामाजिक और वर्गीय स्थिति आदि शामिल है।"[28]

---

27. गुप्ता विश्वंभर दयाल (संपा.), 'साहित्य : समाजशास्त्रीय संदर्भ' (आलेख –आलोक भट्टाचार्य), साहित्य का समाजशास्त्र, प्रथम संस्करण : 1987, सीता प्रकाशन, मोती बाजार हाथरस-204101 (उत्तर प्रदेश), पृष्ठ संख्या – 53

28. डॉ. अमरनाथ, 'हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, संस्करण : 2012, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 378

इसमें साहित्य को एक सामाजिक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। साहित्य का मुख्य सरोकार भी समाजशास्त्र की ही तरह समाज से होता है। समाजशास्त्र में तथ्यों का प्रमाणीकरण क्षेत्रीय कार्यों के माध्यम से होता है। तथ्य चाहे किसी भी प्रकार के हों, समाजशास्त्री इन्हें बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत करते हैं। यह प्रस्तुति तार्किक और अमूर्त होती है जबकि किसी भी रचना में रचनाकार का सामाजिक-व्यवहार उसके कथानक और पात्रों के चयन में, प्रतीक और अलंकार आदि के माध्यम से प्रकट होता है।

समाजशास्त्र समाज में मनुष्य की स्थिति और गति दोनों का वस्तुगत अध्ययन करता है जबकि साहित्य कलात्मक रचना के रूप में केवल वर्णन या वस्तुगत चित्रण-विश्लेषण से आगे बढ़कर सामाजिक जीवन की गहराई में प्रवेश करता है। साहित्यकार मानव जीवन की भावनाओं को अनुभव करके उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त करता है। साहित्य और समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों को ही समान सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों का सामना करना पड़ता है। साहित्य और समाज दोनों के लिए एक-दूसरे के प्रति समझ होनी आवश्यक है।

समाजशास्त्र प्रकृति विज्ञान के अवलोकन की विधि को धारण करके चलती है। यह मनुष्य के व्यवहार को खुली आँखों और इंद्रियों के माध्यम से अवलोकन करता है। तेन साहित्य और कला को सामाजिक तथ्य और घटनाओं के रूप में देखते हैं और उनकी उत्पत्ति के कारणों को खोजने का प्रयास करते हैं। तथ्यों के संग्रह के पश्चात उसके कारणों की खोज में उनका चिंतन धर्म-दर्शन के एकाधिपत्य से आगे बढ़कर प्रकृति विज्ञान तक को स्वीकार करता है। उनका मानना है कि चाहे नैतिक हो या भौतिक, सभी तथ्यों के कारण होते हैं। महत्वाकांक्षा, साहस, सत्य आदि सबके कारण हैं। जैसे पाचन क्रिया ओर मांशपेशियों के गतिशीलता के कारण है।

यूरोप में प्रकृति विज्ञान के नए अनुशासनों एवं समाज विज्ञान संबंधी चिंतन का विकास साथ-साथ हो रहा था। समाजशास्त्र को एक प्रत्यक्षवादी समाज विज्ञान कहा जाता रहा। रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान की तरह समाजशास्त्र भी एक विज्ञान है। मनुष्य का व्यवहार

द्रव्य के व्यवहार की तरह होता है। द्रव्य के माप की तरह व्यवहार के माप के भी मानदंड, मूल्य निर्धारित किये जा सकते हैं और इस प्रकार के वाद-विवाद और बौद्धिक टकराहटों से कला और साहित्य भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इसी परिवेश में तेन का बौद्धिक चिंतन फल-फूल रहा था। उसने कला और साहित्य के समाजशास्त्रीय आलोचना के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति के निर्माण का प्रयास किया।

निष्कर्ष : सनातन काल से साहित्यालोचना के क्षेत्र में साहित्य का विश्लेषण उसकी आंतरिक संरचना यानी बिंब, प्रतीक, लक्षण, लय, भाषा, चरित्रांकन एवं कथानक की द्वंद्वात्मकता जैसी विशुद्ध साहित्यिक एवं सौंदर्यवादी दृष्टिकोण के आधार पर होता रहा है। परंतु वर्तमान काल में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन पर जोर दिया जा रहा है, तो ठीक इसके विपरीत कुछ आलोचक इसे साहित्य से वाह्य वस्तु मानकर इसका पुरजोर विरोध कर रहे हैं। वास्तव में वे इसे साहित्य के अध्ययन में वाह्य समाज का हस्तक्षेप मानते हैं। यद्यपि साहित्य-अध्ययन के काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण, भाषा वैज्ञानिक पद्धति तथा प्रयोजनमूलक संदर्भ का विरोध नहीं होता है। परंतु ज्योंहि यह कहा जाता है कि समाजशास्त्र कुछ साहित्यिक समस्याओं पर प्रकाश डालेगा या समाजशास्त्र के समझ के बिना साहित्य की समझ ही संभव नहीं है तो पूर्ण ताकत के साथ इसका विरोध होता है।

वास्तव में विशुद्ध कलावादी या उसके प्रवक्ता साहित्य को उसके सामाजिक जिम्मेदारी से परे की कोई कथानक, चरित्रांकन या रंगीन मिज़ाजी की सामग्री के रूप में पेश करने से भी नहीं हिचकिचाते हैं। इसी तरह सौंदर्यवादी दृष्टिकोण में सौंदर्य के नाम पर साहित्य को अपने समाज की लोक-परंपराओं, समस्याओं से काटकर उपन्यास का वर्णन करते हैं जबकि मानवता की रक्षा, वर्गभेद, आर्थिक विषमता का विनाश, सामाजिक समधर्मिता की स्थापना, शोषण मुक्त समाज का निर्माण ही वह सौंदर्य है जिसे हम साहित्य के जरिये प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी जीवन की समस्याओं का सही पहचान नहीं कर पाता है।

चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए सामाजिक क्रियाओं से वह प्रभावित भी

होता है और समाज को प्रभावित भी करता है। मैकाइवर और पेज ने समाजशास्त्र की परिभाषा देते हुए इसे सामाजिक संबंधों का जाल बताया। अर्थात –समाजशास्त्र अनिवार्य रूप से, समाज में स्थित मनुष्य का वैज्ञानिक, वस्तुगत अध्ययन है –सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन है। उपन्यासकार भी उसी समाज में रहकर रचना करता है जो अमीर-गरीब, मालिक-मजदूर, शिक्षित-अशिक्षित, सवर्ण-अवर्ण आदि अनेक वर्गों में बँटा हुआ है। इनमें से एक वर्ग समस्त आर्थिक संपन्नता, राजनीतिक अधिकार, धार्मिक वर्चस्व एवं सामाजिक प्रतिष्ठा से लैस है जबकि दूसरा वर्ग इन सबसे वंचित एवं प्रताड़ित है। एक जागरूक उपन्यासकार समाज में घटने वाली इन घटनाओं को बहुत सूक्ष्मता से जाँचता-परखता है। वह समाज में प्रचलित रूढ़ि, अंधश्रद्धा, संस्कार, वर्णभेद, वर्गभेद, सामंती-पूंजीवादी शोषण, धार्मिक कर्मकांड, राजनीतिक प्रभाव, राष्ट्रीय संपत्ति की लूट की होड़, अनैतिकता, अविचार, रहन-सहन, सभ्यता, संस्कृति आदि का चित्रण एवं विश्लेषण अपने उपन्यासों में करता है। अतः इन उपन्यासों पर जितना अधिक समाज का प्रभाव पड़ता है, उसकी सामाजिकता उतनी ही निखर कर आती है जिसे 'उपन्यास का समाजशास्त्र' कहते हैं। कुछ आलोचक इसे 'साहित्य का समाजशास्त्र' या 'साहित्यिक आलोचना' या 'समाजशास्त्र की ही एक शाखा' जैसे भिन्न नामों से संबोधित करते हैं। परंतु मैनेजर पाण्डेय 'साहित्य के समाजशास्त्र' को 'समाजशास्त्र' से अलग एक स्वतंत्र विधा मानते हुए लिखते हैं कि पिछले सौ वर्षों में संस्कृति की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर कलाओं का जो समाजशास्त्र विकसित हुआ है उसका एक रूप है 'साहित्य का समाजशास्त्र'। उसे कोई 'साहित्य का समाजशास्त्र' कहे, 'साहित्यिक समाजशास्त्र' कहे या 'समाजशास्त्रीय आलोचना' कहे –कोई खास फर्क नहीं पड़ता। मुख्य बात यह है कि उसका लक्ष्य साहित्य की सामाजिकता की व्याख्या करना है।

किसी भी रचना के लिए बड़े पैमाने पर पाठक वर्ग तैयार करना और पाठक की दिलचस्पी उस रचना के प्रति बनाये रखना, यह हिंदी आलोचना के सामने एक बड़ी चुनौती है और डॉ. मैनेजर पाण्डेय इसका समाधान साहित्य की समाजशास्त्रीय पद्धति में देखते हैं। आज आलोचना जो अपने मूल्यों और मानदंडों से नीचे गिरकर बौद्धिक वाग्विलास का केंद्र बना हुआ है, मैनेजर पाण्डेय इसे साहित्य के लिए बड़ी चुनौती मानते हैं।

'साहित्य का समाजशास्त्र' किसी रचना की व्याख्या उसके सामाजिक अस्तित्व और सामाजिक संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में करता है। अर्थात वह रचना किस सामाजिक संरचना और साहित्यिक गतिविधियों के बीच लिखी गई? उसके पाठक कौन हैं? पाठक तक रचना की पहुँच के लिए प्रकाशक और वितरण की क्या व्यवस्था है? और सबसे बड़ी बात, रचना के ऊपर अच्छे या बुरे के रूप में पाठक की प्रतिक्रिया। इन सारी कसौटियों पर कसकर कोई रचना साहित्य बनती है और रचना को साहित्य बनाने वाली इस प्रक्रिया का विश्लेषण केवल 'साहित्य के समाजशास्त्र' में होता है, किसी दूसरी आलोचना पद्धति में नहीं। शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण वालों के लिए अच्छे-बुरे, सतही, लोकप्रिय और गंभीर साहित्य में कोई फर्क नहीं है, वे सबका समान दृष्टि से आलोचना करते हैं।

अतः उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि 'साहित्य का समाजशास्त्र' भारत के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के संदर्भ में विचारों को एक नई गति देने में सार्थक सिद्ध होगा। यह बहस की एक नई भूमि तैयार कर रहा है जो समाज तथा मनुष्य के हित में है।